



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2020; 6(4): 67-69

© 2020 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 05-05-2020

Accepted: 06-06-2020

Dr. Preeti Srivastava

Assistant Professor, Department
of Sanskrit, Vivekananda
College, University of Delhi,
Delhi, India

Dr. Jyoti

Assistant Professor, School of
Sanskrit and Indic Studies,
Jawaharlal Nehru University,
Delhi, India

Dr. Asheesh Kumar

Assistant Professor, Department
of Sanskrit, Rajdhani College,
University of Delhi, Delhi, India

न्यायदर्शन में वाद की पूर्वापेक्षाएँ

Dr. Preeti Srivastava, Dr. Jyoti and Dr. Asheesh Kumar

प्रस्तावना

न्यायदर्शन में कथा के तीन भेदों अर्थात् वाद, जल्प, वितण्डा का वर्णन बहुत विस्तारपूर्वक किया गया है। प्रस्तुत शोध-लेख में केवल वाद की चर्चा को उपस्थापित किया गया है।

न्यायसूत्रकार गौतम ने वाद का लक्षण करते हुए स्पष्ट किया है कि वाद प्रमाण, सिद्धांत, तर्क, अवयव से युक्त होना चाहिए तथा उसमें छल, जाति, निग्रहस्थानों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। वाद का लक्षण इस प्रकार न्याय सूत्र में दिया गया है- “प्रमाण व तर्क के माध्यम से स्वपक्ष की स्थापना तथा परपक्ष का प्रतिषेध, सिद्धांत अविरोद्ध, पंचावयव, युक्त पक्ष -प्रतिपक्ष का परिगृह (स्वीकृति) वाद है।”

यहाँ वाद के लक्षण में गौतम ने यह तो स्पष्ट कर दिया कि वाद में क्या ग्रहणीय है तथा क्या अग्रहणीय है, किन्तु जो वाद का विषय है, वह किस प्रकार का होना चाहिए, उसके प्रति क्या पूर्वापेक्षाएँ होनी हैं यह स्पष्ट नहीं किया गया है, जिसे आगे वात्स्यायन तथा उद्योतकर ने स्पष्ट किया है। अतः पक्ष एवं प्रतिपक्ष के मध्य जिस विषय को लेकर वाद किया जाए उस विषय के प्रति निर्मोक्त पूर्वापेक्षाएँ अपेक्षित हैं-

1. एकाधिकरणत्व, 2. विरुद्ध धर्म प्रतिपादन, 3. अनिश्चितार्थता, 4. विरुद्ध धर्मों की समकालीनता।

प्रस्तुत शोध-पत्र में वाद के इन्हीं पूर्वापेक्षाओं को विस्तारपूर्वक वर्णित किया गया है।

न्यायदर्शन में कथा के तीन भेदों अर्थात् वाद, जल्प, वितण्डा का वर्णन बहुत विस्तारपूर्वक किया गया है। प्रस्तुत शोध-लेख में केवल वाद की चर्चा को उपस्थापित किया गया है।

वाद को आँगल भाषा में रैबपमदवम वा कमइंजमश कहा जाता है। वाद वाक्यों का समुदाय है जिसमें अनेक वक्ता होते हैं। वाद में एक पक्ष तथा एक प्रतिपक्ष होता है। प्रत्येक साध्य अर्थ के लिए साधन दिखलाए जाते हैं, दो में से किसी एक अर्थ का अन्त में निश्चय होता है। न्यायदर्शन में न्यायवार्तिककार उद्योतकर के द्वारा पक्ष को गुरु की संज्ञा दी गई है तथा प्रतिपक्ष को शिष्य की संज्ञा दी गई है। यहाँ गुरु से अभिप्राय किसी भी ऐसे व्यक्ति से है जो तत्त्वज्ञान की प्राप्ति करवाए तथा शिष्य से अभिप्राय किसी भी ऐसे व्यक्ति से है जो तत्त्वज्ञान की कामना के विषय को लक्ष्य करके वाद करता है तथा वाद के फलस्वरूप तत्त्वनिर्णय की प्राप्ति करता है। परन्तु जब छल व जाति का प्रयोग करते हुए केवल विजय प्राप्त करने की इच्छा से तर्क-वितर्क किया जाता है, तो वह चर्चा जल्प एवं वितण्डा में परिवर्तित हो जाती है।

न्यायसूत्रकार गौतम से पूर्व तथा गौतम के काल (द्वितीय शताब्दी) तक सभी बौद्धादि दार्शनिकों ने वाद का नामतः प्रयोग कर वस्तुतः जल्प एवं वितण्डा के द्वारा अपने-अपने मतों की स्थापना की, किन्तु वाद की क्या निश्चित स्वरूप होना चाहिए, इसका वर्णन किसी के द्वारा भी नहीं किया जा रहा था, अंततः न्यायसूत्रकार गौतम ने न्यायसूत्र में दशम पदार्थ के रूप में वाद का लक्षण दिया, जो निरंतर भाष्यकार वार्तिककार, टीकाकार के द्वारा परिपुष्ट किया जाता रहा।

वाद प्रयोजन

गौतम वाद को कथा के भेद के अन्तर्गत भी रख सकते थे किन्तु उन्होंने पृथक रूप से इसका उल्लेख किया जिसका विशेष प्रयोजन यह था कि जब प्रमाता किसी विषय वस्तु को जानने में प्रवृत्त होता है, तब

Corresponding Author:

Dr. Asheesh Kumar

Assistant Professor, Department
of Sanskrit, Rajdhani College,
University of Delhi, Delhi, India

उस विषय के प्रति संशय अवश्य उत्पन्न होता है। इसी संशय का निवारण करने के लिए वाद किया जाता है जिसके फलस्वरूप तत्त्वनिर्णय की प्राप्ति होती है।

वाद लक्षण

न्यायसूत्रकार गौतम ने वाद का लक्षण करते हुए स्पष्ट किया है कि वाद प्रमाण, सिद्धांत, तर्क, अवयव से युक्त होना चाहिए तथा उसमें छल, जाति, निग्रहस्थानों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। वाद का लक्षण इस प्रकार न्याय सूत्र में दिया गया है- “प्रमाण व तर्क के माध्यम से स्वपक्ष की स्थापना तथा परपक्ष का प्रतिषेध, सिद्धांत अविरोद्ध, पंचावयव, युक्त पक्ष-प्रतिपक्ष का परिग्रह (स्वीकृति) वाद है।”

यहाँ वाद के लक्षण में गौतम ने यह तो स्पष्ट कर दिया कि वाद में क्या ग्रहणीय है तथा क्या अग्रहणीय है, किन्तु जो वाद का विषय है, वह किस प्रकार का होना चाहिए, उसके प्रति क्या पूर्वापेक्षाएँ होनी हैं यह स्पष्ट नहीं किया गया है, जिसे आगे वात्स्यायन तथा उद्योतकर ने स्पष्ट किया है। अतः पक्ष एवं प्रतिपक्ष के मध्य जिस विषय को लेकर वाद किया जाए उस विषय के प्रति निर्माकत पूर्वापेक्षाएँ अपेक्षित हैं-

1. एकाधिकरणत्व- एकाधिकरण से तात्पर्य है विषय का अधिकरण एक होना। यदि विषय का अधिकरण एक न होगा तो वाद-विवाद ही नहीं है। एकाधिकरणत्व को स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार वात्स्यायन उदाहरण देते हैं कि “आत्मा नित्य है तथा अनित्य है”- यहाँ नित्यत्व एवं अनित्यत्व का अधिकरण एक आत्मा ही है, अतः यह वाद का विषय बन सकता है। परन्तु इसके स्थानपर यदि पक्ष का विषय आत्मा नित्यत्व तथा प्रतिपक्ष का विषय बुद्धि अनित्यत्व होता, तो एक अधिकरण न होने के कारण यह वाद का विषय नहीं बन सकता, क्योंकि यहाँ आत्मा तथा बुद्धि दो भिन्न अधिकरण हैं। अतः वाद के विषय का एकाधिकरण युक्त होना आवश्यक है। न्यायवर्तिकार उद्योतकर का भी एकाधिकरणत्व को लेकर यही मत है- “वस्तु के विशेष रूप जो एक ही आधार में होते हैं पक्ष-प्रतिपक्ष है।

2. विरोद्ध धर्म प्रतिपादन- वाद के पक्ष-प्रतिपक्ष के विषय के लिए द्वितीय नियम यह है कि एकाधिकरण में परस्पर विरोद्ध धर्मों की स्थापना हो तभी वाद सम्भव है।

इस मत को और अधिक स्पष्ट करते हुए वार्तिककार उद्योतकर उदाहरण देते हैं कि द्रव्य क्रियावान् है अथवा गुणवान् है प्रस्तुत उदाहरण में विषय का अधिकरण द्रव्य तो समान है किन्तु इस अधिकरण अर्थात् द्रव्य में रहने वाले धर्म क्रिया तथा गुण विरोद्ध नहीं है क्योंकि एक काल में द्रव्य क्रियावान् भी हो सकता है तथा दूसरे काल में गुणवान् भी हो सकता है। अतः इस विषय को पक्ष-प्रतिपक्ष के वाद का विषय नहीं बनाया जा सकता।

3. अनिश्चितार्थता- वाद के पक्ष-प्रतिपक्ष का तृतीय यह है कि वाद के विषय के अर्थ का निर्णय पहले से निश्चित नहीं होना चाहिए, यदि अर्थ का निर्णय पहले ही हो चुका होगा तो उस पर वाद करना निरर्थक है जैसे ‘मनुष्य मरणशील है’ इस पर किया गया वाद निरर्थक

ही होगा क्योंकि यह सर्वज्ञात है तथा लोक व्यवहार में भी सामान्यतया देखा जा सकता है।

यह पूर्वापेक्षा केवल वार्तिककार द्वारा कही गई है, वात्स्यायन ने इसे आवश्यक नहीं माना है।

4. विरोद्ध धर्मों की समकालीनता- यह वाद के लिए चतुर्थ नियम है। एक ही अधिकरण में परस्परविरोद्ध धर्मों की संभावना होने के साथ ही विरोद्ध धर्मों में यौगपद्य अर्थात् समकालीनता भी होनी चाहिए। जैसे इस समय अमुक विशिष्ट द्रव्य में गुण है तब उसी लक्षण विशिष्ट द्रव्य में गुण नहीं है तो यहाँ वाद हो सकता है किन्तु यदि एक पक्ष अन्य क्षण की बात करें और प्रतिपक्ष अन्य क्षण की तो वाद नहीं हो सकता। जैसे एक पक्ष कहे प्रथम क्षण विशिष्ट द्रव्य में गुण नहीं होता तथा प्रतिपक्ष इतर विशिष्ट क्षण में गुण नहीं होता- यदि कहीं इस प्रकार कि चर्चा हो, तो इस विषय में तुल्यकाल न होने के कारण वाद नहीं किया जा सकता।

अतः एक अधिकरण में स्थित विरोद्ध धर्म न केवल काल की दृष्टि से युगपद होने चाहिए अपितु उनमें देश की दृष्टि से भी यौगपद्य (समकालीनता) होनी चाहिए, तभी वाद सम्भव है।

वार्तिककार ने जो मत चतुर्थ पूर्वापेक्षा में कहा, वह वात्स्यायन के द्वितीय पूर्वापेक्षा का ही विस्तार है अर्थात् “एक अधिष्ठान में दो विरोद्ध धर्म होने पर ही वाद सम्भव है” इसी बात को वार्तिककार ने प्रकारान्तर से काल विशिष्ट के पक्ष में समझाया है। वस्तुतः इसका अन्तरभाव द्वितीय पूर्वापेक्षा में भी किया जा सकता था।

वाचस्पति ने ‘तात्पर्यटीका’ में तथा जयन्तभट्ट ने न्यायमंजरी में जो पक्ष-प्रतिपक्ष का लक्षण कहा है, उस लक्षण के पदों को यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो ‘वाचस्पति’ एवं ‘जयन्त’ ने वात्स्यायन के लक्षण को केवल शब्दान्तर से ही अभिव्यक्त किया है जबकि तथ्यपूर्णता समान है। “एक अधिकरण में रहने वाले परस्पर विरोद्ध धर्म, जो एक काल में स्थापनीय होते हैं, वह पक्ष तथा प्रतिपक्ष कहलाते हैं।

भासर्वज्ञ (950 ई.-1000 ई.) के अनुसार जिस कथा में रागरहित होकर तत्त्वनिर्णय के लिए साधन और खण्डन प्रस्तुत किये जाते हैं, वह वीतरागकथा कही जाती है और इसी को वाद भी कहा जाता है तथा जो पक्ष का साधन करता है, वह वादी कहलाता है और इसका खण्डन करने वाली प्रतिवादी कहलाता है।

निष्कर्षतः इन चारों विशेषणों युक्त पक्ष तथा प्रतिपक्ष की स्वीकृति की अवस्था ही वाद कहलाती है। अतः उपर्युक्त पूर्वापेक्षाओं से युक्त पक्ष-प्रतिपक्ष तथा प्रमाण तर्क आदि से किया गया विचार विमर्श ही वाद कहलाता है। वर्तमान काल में वाद के लिए कमइंजम शब्द का प्रयोग होता है जिसमें एक विषय को लेकर भिन्न तर्क वितर्क किए जाते हैं। किन्तु यह पूर्ण रूप से वाद नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष को पराजित करने की भावना होती है, विषय तत्त्व को जानने की इच्छा इसमें नहीं होती है। जबकि वाद का मूल उद्देश्य विषय तत्त्व को निःस्वार्थ भावना से प्राप्त करना है। अतः श्रीमद्भगवतगीता में श्री कृष्ण ने जो कहा कि ‘वादः प्रवदताहम्’ (कथाओं में मैं वाद हूँ) यह उचित ही है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. न्यायदर्शनम्- अनन्तलाल ठाकुर, न्यायसूत्र न्यायभाष्य न्यायवार्तिक न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धि सहित (स.) मिथिला विद्यापीठ, मुज्जफरपुर, 1967
2. न्यायदर्शनम्- नारायणमिश्र, न्यायदर्शन, चौखम्बा संस्कृत भवन प्रकाशन, 1993
3. न्यायभूषण- भासर्वज्ञ भाष्यकार, वासुदेव सूरीक, संजय प्रकाशन, 2005
4. न्यायमञ्जरी- जयन्तभट्ट, कामेश्वर सिंह, संस्कृत विद्यालय दरभंगा, 2002
5. न्यायवार्तिक- श्री निवास शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान